वैश्वीकरण के भंवर में आदिवासी महिला संस्कृति की प्रासंगिकता एवं महत्व : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

Gore Lal Meena

Associate Professor Hindi
Govt. PG College Karauli, Rajasthan, India

प्रस्तावना

वैश्वीकरण, एक ऐसी अवधारणा जिसमें स्थानीय वस्तुओं, उत्पादों और साथ ही व्यक्तियों, वातावरण और परिवेश को भी एक मानक वैश्विक स्वरूप में ढालने का प्रयास किया जाता है. हो सकता है कि आर्थिक राजनीतिक और सामजिक दृष्टि से बहुत लाभ हुए हो इस अवधारणा के, किन्तु इस प्रक्रिया के दूरगामी परिणाम ज्यादातर हानिकारक ही रहे. ब्रिटेन के द्वारा दुनिया भर के देशों में अपने उपनिवेश बनाए जाने के बाद उसे एक वैवीकृत साम्राज्य का दर्जा मिला. ब्रिटेन की आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ने के साथ ही उसने दुनिया भर के देशों से के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये बहुत से देशों पर अपना राज्य स्थापित किया वहाँ के निवासियों को गुलाम बनाया और फिर अपने औद्योगिक उत्पादों को उत्कृष्ट बता कर गुलाम देश के लोगों को सभ्य बनाने के लिए उन्हें अपने उत्पाद बचे, अब दुनिया के हर गुलाम देशों के बाजार यूरोपीय उत्पादों से पट गए और सिर्फ वही लोग सभ्य माने गए जो इन यूरुपीय उत्पादों का उपयोग कर रहे थे. अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद अमेरिका भी यूरोप के साथ औद्योगिक होड़ में शामिल हो गया. वक्त बीतने के साथ ब्रिटिश साम्राज्य का तो सूरज अस्त हो गया लेकिन उसके फैलाए पूंजीवादी जाल का विस्तार दिनों–दिन बढ़ता ही जा रहा था. यूरोप–अमेरिका ने अपनी वस्तुएं अपनी संस्कृति को दुनिया भर में आर्थिक लाभ कमाने के लिए फैलाने का एक नया हथकंडा अपना ष्पूरी दुनिया को एक गाँव बन जाना चाहिए– ..और इस ग्लोबल गाँव के ऐसे सब्जबाग सजाए कि बस पूरी दुनिया उसकी चमक में चौंधिया गयी कि बस अप पूरी दुनिया के लोग एक गाँव के निवासी हो जाएंगे, एक जैसा खाएगे और समृद्धि आएगी साथ समानता लाएगी. लेकिन इस श्ग्लोबल गाँवश के बसने के पीछे की असल मंशा थी कि यूरोप–अमरीका जो बेचें वही सब खाओ पहनों, उनकी भाषा बोलो, उन्हीं के जैसा दिखने का प्रयास करो, सूट–बूट पहन के जेंटल मैन बनो भले तुम विषुवत्तीय प्रदेश के निवासी हो, चमड़ी गोरी बनाने के लिए उनके सौन्दर्य उत्पाद खरीदो और बन जाओ उनके जैसे नकली यूरोपी अमेरिकी) यूरोप या अमरीका जैसा खान–पाना, भाषा–व्यवहार, पर्यावरण परिवेश बना लेने के क्रम किया गये प्रयास के लिए ओं वर्ड सक्स्टीट्यूशनश बना श्वैश्वीकरणश जिसे आज कल हम श्आधुनिक और विकसित कहना भी पसंद करते हैं, असल में ये अवधारणा प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध और से रोक–टोक प्रयोग को प्रत्साहन देने वाली अवधारणा है जो कि एक महाविनाश को आमंत्रित कर चुकी है. इस सन्दर्भ में जमी प्रथम कहते हैं कि ''सभी संसाधनों के अंधाधुंध उपयोग से हमारी ग्लोबल अर्थव्यवस्थाएं ऐसे कई संकेत दर्शा रही हैं जिनके कारण हमसे पहले कई सभ्यताएँ धराशाई हो चुकी है''।

साहित्य जगत में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श की चर्चा के बाद अब आदिवासी विमर्श की चर्चा शुरू हो गई है। किसी भी विमर्श या चिंतन का उद्देश्य अराजकता या वैमनस्य निर्माण करना नहीं होता। विमर्श या चिंतन का प्रमुख उद्देश्य होता है किसी वर्ग विशेष का पक्षधर होना, अर्थात ऐसे वर्ग का पक्ष लेना जिसके वजूद को अन्य वर्गो ने अपने सामने कुछ भी नहीं समझा। आज की समाज व्यवस्था में आदिवासी वर्ग ऐसा ही है, जो मुख्य धारा से दूर हाशियें पर रहा है। सामान्य लोगों के मन में आदिवासी समाज को लेकर कई मान्यताएँ दिखाई देती है, जैसे आदिवासी अर्थात दूर जंगलों में रहनेवाले नग्न लोग जो नरभक्षी होते हैं आदि...। अब तक उपेक्षित रहे इसी वर्ग का साहित्य व्दारा पक्ष लिया जा रहा है। यही है आदिवासी विमर्श।

लेकिन इस वैश्वीकरण ने जो विकास किया किया उसका परिणाम यह निकला कि दुनिया भर में जैविक और सांस्कृतिक विविधता का हास हो रहा है. आज ना हमारे पास सांस लेने लायक हवा रह गई है ना पीने लायक पानी, हजारों हजार नई बीमारियाँ पैदा हो चुकी है जिनका इलाज आम लोगों के लिए चाँद पर जाने जैसा है और सबसे ज्यादा क्षति इस श्ग्लोबल गाँवश ने आदिवासी जनजातीय समुदायों को पहुंचाई है. आदिवासी समुदाय आदिकाल से वनों जंगलों में रहते आ रहे हैं और प्रकृति को न्यूनतम क्षति पहुंचा कर वे प्राकृतिक उत्पादों पर अपना जीवन यापन करते हैं. वे हमेशा से प्रकृति के सबसे नजदीक और प्रकृति संरक्षक बन कर रहते रहे. पहले के समयों में गैर–आदिवासियों ने भी इनकी संस्कृति या जीवन पद्धति को नष्ट करने का वैसा प्रयास नहीं किया जैसा कि इस आधुनिक पूंजीवादी युग में और ग्लोबल

गाँव ने इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम देख सकते हैं कि गुलाम भारत मैं आदिवासियों के कई सशक्त विद्रोह हुए अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी आदिवासी नायकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही..

साहित्य के क्षेत्र में भी आदिवासी साहित्यकारों ने इस आधुनिक वैश्वीकृत दोहन का पूर–जोर विरोध किया. इस पर्चे का केन्द्रीय विषय वैश्वीकरण की विनाशकारी अवधारणा पर चोट करता आदिवासी महिला लेखन अतः हम यहाँ विशेष रूप से आदिवासी महिलाओं के लेखन के माध्यम से वैश्वीकरण के दुष्परिणामों को समझने का प्रयास करेंगे

वैश्वीकरण की अवधारणा के माध्यम से जो तथाकथित विकास मानक बनाए गए हैं, आज हर देश और अर्थव्यवस्था उसके दूरगामी परिणामों की चिंता किये बगैर उन मानकों को पूरा कर स्वयं को विकसित या कम से कम विकासशील की श्रेणी में दर्ज करा लेने की होड़ लगाए है. इन लूट–खसोट और विनाशक विकास प्रक्रियाओं को आइना दिखाते हुए जानी–मानी आदिवासी लेखिका महुआ माझी जी ने अपने चर्चित उपन्यास मरंग गोडा नीलकंठ हुआ में कहा है कि–''तुम विकसित लोगों के पास बेशक विकास के अलग–अलग मॉडल हैं मगर हमें पूरा यकीन है कि विकास का आदिवासी मॉडल ही इस धरत को बचा सकता है. वर्ना इस धरती पर हिमयुग आने में देर नहीं लगेगी''[2]

मुख्य शब्द : वैश्वीकरण ,महिला सांस्कृतिक विकास, सांस्कृतिक दोहन, सांस्कृतिक बचाव, सांस्कृतिक विकास

आदिवासी महिला संस्कृति

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। इस दर्पण में आदिवासी की कथा–व्यथा क्या है ? भारतीय विद्वानों ने साहित्य की परिभाषा करते हुए यह कहा है कि, वह अभिव्यक्ति साहित्य है जो सबका हित करे। अर्थात प्रत्येक प्राणी का हित करनेवाला साहित्य ही वास्तविक साहित्य है। यदि यह सच है तो जिस समाज में आदिवासी अब तक हाशिऐ पर रहा हो उस समाज के साहित्य से क्या आदिवासी का अब तक कोई हित हुआ है ? डॉ. शैलजा सक्सेना साहित्य के स्वरूप पर विचार करते हुए कहती है कि –"साहित्य जीवन सा गहरा, जीवन से जुड़ा, जीवन की ही तरह हर समय नया रंग–रूप दिखानेवाला होता है। कितना ही रूप पकड़े, कितना ही समझे पर फिर भी कुछ कहना–सुनना, समझना शेष रह जाता है।"1 आदिवासी समाज आज तक इस सभ्य समाज से कोसों दूर रहा है। इसके जीवन के कई रूप–रंग हैं, जो उनके गीतों, नृत्यों, कलाओं और आज कहानी, कविता जैसे माध्यमों व्द्रारा भी व्यक्त हो रहा है और यही है आदिवासी साहित्य।

आदिवासी क्षेत्रों में खनिजों के दोहन के लिए जो तकनीक अपनाई जाती है वो उस क्षेत्र की भूमि वातावरण और लोगों के स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक होते हैं, उदाहरण स्वरूप हम झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों में यूरेनियम खनन के दुष्परिणामों को देख सकते हैं मगर आज वो मुख्य दुनिया जो पर्यावरण संरक्षण और मानवता की पैरोकार बनी फिर रही उसीकी अर्थव्यवस्थाएं ऐसे कृत्यों को अमानवीय नहीं बल्कि श्विकास कहती हैं. आदिवासी क्षेत्रों की भूमि को इन दोह्नों का इतना खामियाजा भुगतना पड़ा कि वहाँ की पारम्परिक फसलों की पैदावार कम हो गई. सावित्री बडाईक लिखती है कि....

''महुआ.....
सदियों से हर बरस
कम हो रही है उनकी उम्र अतिशय मुनाफा की आकांक्षा''[3]
क्योंकि बढ़ रही है कुछ लोगों की

वैश्वीकरण और पूंजीवाद के इस युग में जहाँ एक ओर अमीर तबका है जो कि सत्ता, शासन और संसाधन हर जग अपनी अकड़ बनाए हुए है और उनका मनमाना उपभोग कर रहा है वहीं दूसरी ओर है आर्थिक तंगी और तथाकथित विकास की मार झेल रहा संसाधनों विहीन तबका जिसके तमाम हक और जीवन जीने तक का अधिकार विकास के नाम गिरवी रख उसके पास मुह धोने तक का पानी नहीं है। कि वो दिन भर की मेहनत मजदूरी के बाद शरीर पर लगी धुल तक को साफ कर सके वहीं साधन संपन्न मात्र सजावट के लिए फव्वारे लगा कर सैकड़ों लीटर पानी भ देते हैं. प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल जी की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं–

..उन जगमगाती रोशनियों से दूर
शहर के आखिरी छोर पर झुग्गी–झोपडियाँ है
जहाँ टिमटिमाते हुए कुछ दिए जल रहे हैं
दिए की लौ लगातार लड़ रही है अंधेरों से
और अंधेरा है कि भागने का नाम नहीं ले रहा है।
अँधेरी से घिरी झोपडियों में बैठा आदमी

देख रहा है दिए को अंधेरे से लड़ते, '' !!

आदिवासी समाज से समेकित विकास की अवधारणा का पोषक रहा है और अपने हक के लिए वो लड़ना भी जानता रहा है. आदिवासी समाज के लोग किसी बाहरी थोपे हुए विकास मॉडल का अंधानुकरण ना कर के वो अपनी परिस्थितियों एवं प्रकृति के अनुकूल विकास मॉडल को अपनाते हैं उसकी गति भले ही धीमी हो किन्तु वो विनाशक कतई नहीं है, लेकिन आज के इस वैश्वीकृत विकास मोडल ने प्रकृति के तमाम नियमों का उल्लंघन किया है और अपनी स्वार्थ परता में धरती और उस पर रहने वाले तमाम जीव–जन्तुओं का जीवन दूभर बना रखा है, ऐसी परिस्थिति से व्यथित हो रेशमा हंसदा कह उठती है कि–''...क्या हुआ पहाड़ को गिट्टियां बनाने से. रेशमा हंसदा जी अपनी कविता जंगल का गीत में आदिवासी समाज, जिसे के लोग पर और अविकसित की श्रेणी में रखते हैं, और तथाकथित विकसित गैर आदिवासी समाजों को दो तरह के जंगल कहा और दोनों जंगलों में फर्क बताते हुए लिखा है कि–

' यह गीत जंगल का है
जहाँ पेड़ खुद उगते हैं
खुद मिट कर
अपनी धरती को
उर्वरा कर जाते हैं
शहरी जंगल शहर में उगता है
कंक्रीट का ईंट का बालू का, सीमेंट का
जो लील लेता है अपनी ही धरती की उर्वरा
मौसम, पेड़, पौधे और
वहाँ के आदमी से आदमीयत''[6]

वैश्वीकृत गाँव में आम इमली–महुआ सब से ग्रामीण आदिवासियों का अधिकार छीन कर सरकारें प्राइवेट पूंजीपति कम्पनियों को सौंप देती हैं और वे फिर ग्रामीणों के ही उत्पाद सुन्दर चमकदार पैकेटों में सजा कर मल्टी स्टोर्स में बेचते हैं और गाँव–क्वार के लोग हाथ में दाम ना होने से अपनी ही चीजें खाने को तरसते हैं, नदियों पर बड़े–बड़े बाँध बना कर उन्हें निचोड़ लिया जाता है जिससे आस–पास के क्षेत्रों में सिंचाई से लेकर पीने तक के पानी की किल्लत हो जाती है और फिर आती पानी की वैश्वीकृत कम्पनियां जो बोतलबंद पानी बेचना शुरू करती है. निर्मला पुतुल जी कहती हैं कि–

''अब जबकि गुलदस्ते की जगह
सम्मेलनों में हमारे टेबुलों पर बेसलरी–बोतलें सजती हैं
न चाहते हुए भी पानी पी–पीकर बोलना पड़ता है।
अपने इलाके के सूखे स्रोतों पर''[7]

जबकि ऐसे ग्लोबल गाँव की संस्कृति से बिलकुल उल्ट है आदिवासी संस्कृति जो की अपना धर्म ही मानती है कि ''किसी के पेट में दो कौर अन्न पहुंचाना और सूखे कंठ को तर करना ही हमारा धर्म है''[8]. आदिवासी महिला लेखिकाओं ने ना सिर्फ पूजीवादी लूट का विरोध किया बल्कि उन्होंने गैर–आदिवासी समुदायों द्वारा आदिवासियों के साथ किये गए छल का भी विरोध किया और उन गैर–आदिवासी आन्दोलनकारियों का भी जो कि आदिवासियों की समस्याओं को जाने समझे बिना ही सिर्फ अपना उल्लू सीधा करने के लिए आदिवासियों के नेता या नेत्री बन जाते हैं और आदिवासी समुदाय को या तो महिमामंडित कर उन्हें देव तुल्य बनाने का प्रयास करते हैं या तो फिर घडियाली आंसू बहा कर आदिवासियों को अत्यंत दीन–हीन साबित करने लग जाते हैं. आदिवासी लेखिका निर्मला पुतुल जी अपने समाज को ऐसे भूतों से आगाह करते हुए कहती हैं कि–

''वे दबे पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बढ़ाई करते हैं
वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे पढ़ते हैं।
वे कौन हैं.....?

सौदागर हैं वे...समझो.....''[9]

आदिवासी महिलाओं का लेखन अन्य अस्मितावादी विमर्शो या स्त्रीवादी विमर्श से इस प्रकार भिन्न होता है कि वे अपने लेखन में सिर्फ नारी मुक्ति का प्रश्न नहीं उठाती बल्कि उनकी दृष्टि शोषण और दोहनकारी हर नुक्ते पर जाति है. वैधीकरण, पूंजीवादी और अंधाधुंध औद्योगीकरण से दुष्प्रभावित हुए हर पहलू पर उनकी नजर जाती है। और वो सबके साथ एक समतावादी समाज की स्थापना की पैरोकार बनती हैं जिसमें में आदिवासी मोचों के साथ–साथ, जाति, लिंग, वर्ग, पर्यावरण, प्रकृति के लिए भी लड़ती हैं, तमाम मुश्किलातों के बाद भी वे अपनी आदिवासियत के जीवट को बचा कर रखती हैं, लेकिन साथ ही वे अपने समाज के भीतर की महिलाओं को लेकर गैर–बराबरी की धारणा को भी उजागर करने से पीछे नहीं हटती

प्राचीन काल से आज तक आदिवासी समाज पूरी दुनिया में अपनी जगह बनाए हुए कायम है तो इस का कारण इस समाज का अभूतपूर्व जीवट और प्रक्रिति से सामीप्य है. जबकि मुख्य धारा के स्थानीजन आए दिन ये घोषणा करते रहते हैं कि परिस्थितियां प्रतिकूल हैं और आदिवासी समाज संकट में है. लेकिन आदिवासी समाज को सुरक्षित और संरक्षित रखने के लिए वास्तव में मुख्य धारा के समाज के द्वारा कोई उल्लेखनीय पहल नहीं की गई. मगर आदिवासी समाज हर परिस्थिति और प्रतिकूलता में स्वयं को बचा पाने में सक्षम है, बन्दना टेटे जी की कविता का यहाँ उल्लेख करना उचित है कि–

फिर भी हम
जो उनकी झूठी भविष्यवाणियों में
उनके विकास के नक्शे में
कई सदी पहले ही
'एक्सटिंक्ट' और विलोपित हो चुके हैं
चांद तारों की तरह टिमटिमा रहे हैं.
क्योंकि सच सूरज है
क्योंकि महज कृत्रिम सत्ता के जोर पर
कोई रंगहीन मनुष्य नहीं हो जाता

महादेव कोली आदिवासियों में होली, विवाह जैसे अवसरों पर 'नढ़ंग' (भालू) निकाली जाती है। एक आदिवासी युवक बदन पर काले वस्त्र लपेटता है, कमर में घुँगरू बांधकर चेहरे पर काला रंग लगाकर (यह काला रंग मुख्यतः चुल्हे की या तवे की कालीख होती है।) नढ़ंग अर्थात भालू बन जाता है। भालूवाला, उसकी पत्नी तथा अन्य पात्र बनते हैं। स्त्री पात्र पुरूष ही करते हैं। नाच करने के बाद इन पात्रों में संवाद होता है। यह संवाद किसी लिखित स्क्रिप्ट नुसार नहीं होता; उद्देश्य केवल मनोरंजन करना होता है। आदिवासियों की यह 'नढ़ंग' निकालने की प्रथा भी आदिवासी साहित्य ही है, जो शब्दबद्ध नहीं है।

वंदना टेटे जी आदिवासी साहित्य के बारे में विचार व्यक्त करते हुए कहती हैं – "हम कह सकते हैं कि आदिवासी साहित्य सिर्फ शब्दों में लिखित कल्पना, अनुभव, भाव, विचार और यथार्थ की कलात्मक स्वानुभूति अथवा सहानुभूति कि अभिव्यक्ति नहीं है; बल्कि यह मानव सहित समस्त जीव जगत, प्रकृति और समष्ठि का जीवंत परफॉरमेंस है जो अध्यात्मिक अनुष्ठानों, दैनंदिन क्रियाकलापों और विविध कलात्मक अभिरूचियों व अभिव्यक्ति के भिन्न–भिन्न रूपों के व्दारा निरंतर प्रदर्शित होता रहता है।"5 हम यह भी कह सकते हैं कि आदिवासियों व्दारा किया जानेवाला प्रकृति का अनुकरण भी एक प्रकार का साहित्य है।

निष्कर्ष

अंततः निष्कर्ष रूप में यहीं कहेंगे कि सरकार की नई उदारीकरण की नीतियों के कारण आदिवासी समाज के शोषण की प्रक्रिया अत्यंत तेज हो गई है। विकास के नाम पर जंगलों को तोडा जा रहा है। जो अदिवासी जंगलों में रह रहे थे उनकी जमीन अब उनसे छिनी जा रही है। इस विकास प्रक्रिया ने आदिवासियों का जल, जमीन और जंगल का अधिकार ही खत्म कर दिया है। अपने अस्तित्व को खतरे में देख आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को बचाने के लिए सजग हो गया है। अपनी अस्मिता बचाये रखने के लिए अपनी भाषा, संस्कृती, कला, मान्यताएँ आदि की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहा है। आज के इस समसामाईक युग में अपनी अदिवासी पहचान कायम रखने के लिए जो सामुहिक अनुभूति का साहित्य लिखा जा रहा है वही है आदिवासी साहित्य। यह आदिवासी साहित्य विमर्श हाशिए के समाज को मुख्य प्रवाह में लाने में सहायक सिद्ध हो रहा है।

सन्दर्भ सूची

- साहित्य की परिभाषा– वेबलिंक www.sahityakunja.net
- साहित्यिक निबंध– सं. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त –संस्करण 1989, पृष्ठ सं. 05
- आदिवासी दर्शन और साहित्य– सं. वंदना टेटे– संस्करण 2015, पृष्ठ सं. 20
- आदिवासी साप्ताहिक, अंक–100, अप्रैल–2017, पृष्ठ 4
- जगमगाती रोशनियों से दूर, निर्मला पुतुल, http://kavitakosh-org-
- आदिवासी साप्ताहिक, अंक–100, अप्रैल–2017, पृष्ठ–14
- जब गुलदस्तों की जगह पानी की बोतलें सजने लगी, निर्मला पुतुल, http:// kavitakosh-org